22_philology_Layout 1 5/1/2014 5:02 PM Page 312



# ‘मुक्तिगामी फ़िलॉलॅजी’ और ज्ञान-परम्पराएँ

## शब्दार्थ-विज्ञान के सिलसिले में शेल्डन पोलॉक से एक बहस

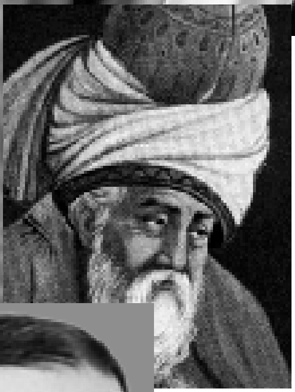

अविनाश झा

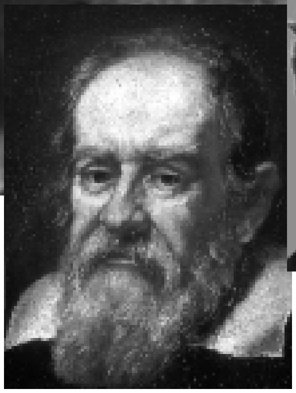

आज की तारीख़ में ‘फ़िलॉलॅजी’ का शब्दार्थ समझने वाले लोग भी बहुत कम हैं। चूँकि इसमें ‘लॅजी’ लगी हुई है, इसलिए कम से कम इतना अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि यह ज्ञान और अनुसंधान की एक शाखा है। दरअसल, कहना यह चाहिए कि यह ज्ञान की एक ‘अनुशासित’ शाखा है। ऐसा कहने पर ‘डिसिप्लिन’ के अर्थ को हम अपने विचारों के क्षितिज पर रख सकते हैं। इसे एक शास्त्र

22_philology_Layout 1 5/1/2014 5:02 PM Page 313



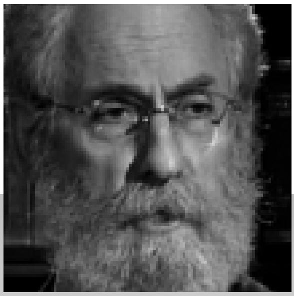

**पोलॉक फ़िलॉलॅजी को वैश्विक पटल पर देखते हैं। उन्होंने फ़िलॉलॅजी से संबंधित परम्पराओं की उपस्थिति भारत, चीन, अरब और ईरान इत्यादि में देखी है। पश्चिम में भी फ़िलॉलॅजी की परम्परा की शिनाख़्त बहुत पीछे जा कर ईसा-पूर्व तीसरी सदी में अलेक्सांद्रिया के व्याकरणविदों और सम्पादकों के काम में की गयी है।**

भी कहा जा सकता है। लेकिन उस सूरत में हमें याद रखना होगा कि 'शास्त्र' और 'डिसिप्लिन' की परिकल्पनाएँ अलग-अलग वैचारिक इतिहास से उद्‌भूत हुई हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो 'शास्त्र' और 'डिसिप्लिन' के बीच का अंतर हमारे लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण हो सकता है, जितना कि उनकी समानता।

फ़िलॉलॅजी की बात अगर शब्दों के अर्थ की बातचीत से शुरू हो बेहतर होगा। आख़िरकार फ़िलॉलॅजी को अर्थों का विज्ञान माना गया है। इसकी शुरुआत युरोप में आधुनिकता के उदय के साथ जुड़ी हुई है। शेल्डन पोलॉक की यही मान्यता है। वे बारूश स्पिनोज़ा की 1660 में लिखी गयी कृति *ट्रेक्टेटस थियोलोजिको-पॉलिटिकस* को आधुनिक फ़िलॉलॅजी का मूल ग्रंथ मानते हैं। इस प्रकार पोलॉक ने फ़िलॉलॅजी के उदय को पूँजीवाद और उदारतावादी लोकतंत्र के उदय से जोड़ा है। ऐसा करते हुए पोलॉक एक अकादमिक अनुसंधान की शाखा को उस समय के बृहत्तर आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक धाराओं के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। लेकिन वे यहाँ रुकते नहीं। आज की भूमण्डलीकृत दुनिया के लिए वे एक उत्तर-पूँजीवादी फ़िलॉलॅजी की दर्शन की पेशकश करते हुए उसे 'मुक्तिगामी फ़िलॉलॅजी' या 'लिबरेशन फ़िलॉलॅजी' का नाम देते हैं।[1] यह लेख मुक्तिगामी फ़िलॉलॅजी की इसी परिकल्पना का एक विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयत्न है।

इस मुक़ाम पर कई सवाल पूछे जा सकते हैं। जैसे, आज की दुनिया में फ़िलॉलॅजी का अध्ययन किस प्रकार का हो, इसकी मूल विषय-वस्तु क्या हो, इसे किस प्रकार के ज्ञान के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए, और दूसरी क़िस्म के ज्ञान-प्रवाहों से इसका क्या रिश्ता है या होना चाहिए? पोलॉक इन सभी सवालों से रूबरू होते हैं। भारत में पोलॉक की ख्याति भारतीय साहित्य और विचार परम्परा के अध्ययन पर आधारित है। उन्होंने इस बात पर गहरी चिंता जताई है कि आधुनिक भारत में संस्कृत एवं अन्य प्राचीन भारतीय भाषाओं को जानने और समझने वालों की संख्या लगातार कम होती जा रही है।[2] बाक़ी दुनिया में भी स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। इस तरह के ज्ञान का लोप होने पर हमारी, यानी पूरे मानव समाज की, अतीत को समझने की क्षमता का भी लोप हो जाएगा। पोलॉक के अनुसार

---

[1] इसी शीर्षक से पोलॉक ने दिल्ली में एक व्याख्यान दिया था. यह व्याख्यान विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सी.एस.डी.एस.) के स्वर्ण जयंती वर्ष के उपलक्ष्य में आयोजित व्याख्यानमाला की पहली कड़ी थी. इस व्याख्यान के अलावा इससे पहले अपने प्रकाशित प्रपत्र 'फ़्यूचर फ़िलॉलॅजी' में वे इस विषय पर लिख चुके हैं. हमारा यह लेख इन्हीं दो पाठों पर आधारित है. देखें, शेल्डन पोलॉक (2012), *लिबरेशन फ़िलॉलॅजी*, सी.एस.डी.एस. स्वर्ण जयंती व्याख्यानमाला, 19 दिसम्बर. (यू ट्यूब पर उपलब्ध) और शेल्डन पोलॉक (2009), *फ़्यूचर फ़िलॉलॅजी : फेट ऑफ़ ए सॉफ्ट साइंस इन अ हार्ड वर्ल्ड*, *क्रिटिकल इनक्वैरी*, खण्ड 35, अंक 4 (ग्रीष्म) : 931-961.

[2] देखें, शेल्डन पोलॉक (2002), 'द डेथ ऑफ़ संस्कृत', *कम्पैरेटिव स्टडीज़ इन सोसाइटी ऐंड हिस्ट्री*, खण्ड 43, अंक 2, अप्रैल 2001.

22_philology_Layout 1 5/1/2014 5:02 PM Page 314



अतीत की इस समझ को खो देने से मानव-मात्र की हमारी समझ कमज़ोर हो जाएगी। यह तर्क़ देते हुए पोलॉक अपनी बात को फ़िलॉलॅजी से आगे ले जाते हुए इस नयी मुक्तिगामी फ़िलॉलॅजी को इक्कीसवीं सदी के लिए उपयुक्त एक मानवतावादी मानवशास्त्र के केंद्र में स्थित करते हैं।

जब भी विदेशी विद्वानों द्वारा भारतीय विद्याएँ सीख कर भारत के इतिहास या भारतीय विचार पर लेखन किया जाता है तो अक्सर उनके प्रति आदर और संशय के मिले-जुले भाव बन जाते हैं। हम उनके भारत-प्रेम से प्रेम करते हैं। पर उनके भारत-ज्ञान से प्रभावित होते हुए भी हमें लगता रहता है कि कहीं-न-कहीं इस ज्ञान में कुछ खोट होगा। इस मानसिकता के दलदल को थोड़ा परे रख कर प्रस्तुत लेख में हमने पोलॉक द्वारा किये गये ज्ञान तथा ज्ञान-कर्म की सैद्धांतिक विवेचना को अपना विषय बनाया है। मेरा ख़याल है कि अगर हम देश-चिंतन को एक क्षण के लिए छोड़ कर विश्व-चिंतन की ओर अग्रसर होंगे तो उससे हमारे देश-चिंतन पर भी शायद कुछ नया प्रकाश पड़ेगा। वैसे तो फ़िलॉलॅजी का अपना इतिहास देश-चिंतन से गुम्फित रहा है, ख़ास कर इसकी जर्मन परम्परा में। लेकिन जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, पोलॉक फ़िलॉलॅजी को वैश्विक पटल पर देखते हैं। उन्होंने फ़िलॉलॅजी से संबंधित परम्पराओं की उपस्थिति भारत, चीन, अरब और ईरान इत्यादि में देखी है। पश्चिम में भी फ़िलॉलॅजी की परम्परा की शिनाख़्त बहुत पीछे जा कर ईसा-पूर्व तीसरी सदी में अलेक्सांद्रिया के व्याकरणविदों और सम्पादकों के काम में की गयी है। चौदहवीं और पंद्रहवीं सदी के नवजागरण काल के मानवतावादी विचारकों में भी फ़िलॉलॅजी से संबंधित विचार पाए जा सकते हैं। इसके उपरांत युरोप में चर्च के सुधार, पुनर्गठन और अंततः विभाजन की बृहत सामाजिक प्रक्रिया (जिसे हम 'रिफ़ॉर्मेशन' या ईसाई धर्म-सुधार के नाम से पुकारते हैं) में भी फ़िलॉलॅजी से संबंधित विचार महत्त्वपूर्ण थे। इस सामाजिक आलोड़न का एक महत्त्वपूर्ण बिंदु था कि बाइबिल में लिखे 'भगवान के शब्दों' को कैसे समझा जाए। यहाँ सवाल यह था कि क्या हर कोई बाइबिल पढ़ कर ख़ुद ही समझ सकता है या फिर उसे पादरियों द्वारा की गयी व्याख्या पर निर्भर होना पड़ेगा?

दरअसल, जहाँ भी शब्दों, भाषाओं और ग्रंथों को समझने की समस्या सामने आती है और इसके उपाय ढूँढ़े जाते हैं, वहाँ फ़िलॉलॅजी के क़दमों के निशान देखे जा सकते हैं। परंतु ज्ञान की एक अनुशासित शाखा के रूप में फ़िलॉलॅजी का उदय युरोप में आधुनिकता के प्रादुर्भाव से जुड़ा है। इसकी दो विशेषताएँ हैं। एक तो यह कि वैज्ञानिक चेतना से जुड़े एक वैज्ञानिक अनुसंधान की शाखा के रूप में फ़िलॉलॅजी ख़ुद की पहचान रखती है। दूसरी विशेषता है कि यह ज्ञानानुशासन एक ऐतिहासिकतावादी चिंतन से जुड़ा है। शब्दों या ग्रंथों की समझ मुख्य तौर पर अतीत को समझने का औज़ार बन जाती है। युरोप में नवजागरण के दौरान प्राचीन ग्रंथों को समझने का उद्देश्य अतीत को समझना न होकर अतीत का विलुप्त-प्रायः ज्ञान फिर से हासिल करना था। ईसाई धर्म-सुधार के दौरान बाइबल के शब्दों को समझने की समस्या भी अतीत को समझने की समस्या नहीं थी। यहाँ सवाल प्रामाणिकता या अधिकार का था। मसलन, क्या सामान्य लोग भी बाइबिल समझ सकते हैं या उसे सही तरीक़े से समझने का विशेषाधिकार कुछ विशेष लोगों को ही प्राप्त है। किसी ग्रंथ के अर्थों की पड़ताल का संदर्भ अलग-अलग हो सकता है। प्राचीन ग्रंथों को समझने की समस्या में जिन फ़र्क़ों को हम रेखांकित कर रहे हैं, उन्हें पोलॉक अपने निबंधों या व्याख्यानों में साफ़ नहीं करते। ऐतिहासिक चेतना का उल्लेख वे अवश्य करते हैं। हम इस पर वापस लौटेंगे क्योंकि हम पोलॉक से जो बहस करना चाहते हैं उसके लिए यह फ़र्क़ और इससे जुड़े सवाल महत्त्वपूर्ण हैं।

22_philology_Layout 1 5/1/2014 5:02 PM Page 315



## स्पिनोज़ा और फ़िलॉलॅजी का उदय

पोलॉक स्पिनोज़ा के ग्रंथ *ट्रैक्टेटस थियोलॉजिको-पॉलिटिक्स*[3] को आधुनिक फ़िलॉलॅजी के एक मूल ग्रंथ के रूप में अपने विचार का विषय बनाते हुए एक ज्ञान-परम्परा के शुरुआती दौर में एक मुख्य योगदान के रूप में देखते हैं। ऐसा करते हुए वे इसके ऐतिहासिक संदर्भ पर भी ग़ौर करते हैं और इसीलिए वे इसे पूँजीवादी आधुनिकता के प्रादुर्भाव से जोड़ देते हैं। पर उनकी दिलचस्पी इस ज्ञान-परम्परा के ऐतिहासिक संदर्भ को ज्ञान की बहस में लाना है। स्पिनोज़ा के ग्रंथ के अर्थ-मंथन का उद्देश्य उस समय के इतिहास पर प्रकाश डालना नहीं है। वे ख़ुद को, और आज के समय में फ़िलॉलॅजी के अध्ययन को, स्पिनोज़ा से शुरू होने वाली इसी ज्ञान-परम्परा के एक अंग के रूप में देखते हैं। उनका विचार है कि इस ज्ञान-परम्परा में आज बदलाव की ज़रूरत है जो कि 'मुक्तिगामी फ़िलॉलॅजी' के पूरे विमर्श का केंद्र है। बारूश स्पिनोज़ा (1632-1677) हॉलैंड की राजधानी एम्स्टर्डम में रहने वाले एक यहूदी थे जिन्हें अपनी जमात से बाहर कर दिया गया था। बाद में कैथॅलिक चर्च ने भी उनकी किताबों पर प्रतिबंध लगा दिया। पश्चिमी दर्शन की परम्परा में देकार्त (1596-1650) के बाद आने वाले सबसे महत्त्वपूर्ण दार्शनिकों में उनकी गिनती है। दर्शन की परम्परा में उनकी कृति *एथिक्स* को उनका सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है जिसमें उन्होंने नीतिशास्त्र को यूक्लिड की ज्यामिति के तर्ज पर प्रमेय-निष्कर्ष अंदाज़ में लिखा है। हमारे समय के फ़्रांसीसी दार्शनिक डिल्यूज़ ने उन्हें 'दार्शनिकों के राजकुमार' की संज्ञा दी है।

धर्म और राजनीति पर लिखा गया उनका ग्रंथ *ट्रैक्टेटस थियोलॉजिको-पॉलिटिकस* 1670 में प्रकाशित हुआ। पोलॉक के अनुसार इस ग्रंथ का नाम *ट्रैक्टेटस फ़िलॉलॉजिको-पॉलिटिक्स* भी रखा जा सकता था। इसके बीस अध्यायों में से पहले पंद्रह में विमर्श यह है कि बाइबिल को कैसे पढ़ा-समझा जाए अंतिम पाँच अध्याय राज्य-तंत्र और वैचारिक स्वतंत्रता से जुड़े मुद्दों पर हैं। किसी पुराने ग्रंथ को वैज्ञानिक ढंग से उसके ऐतिहासिक संदर्भ में कैसे समझा जाए— इसका एक स्पष्ट और विशिष्ट उदाहरण स्पिनोज़ा के इस ग्रंथ में मिलता है।

स्पिनोज़ा बाइबिल को इसकी मूल भाषा हिब्रू में पढ़ते हैं। वे इसका अध्ययन करते हैं कि कैसे इस ग्रंथ का संचरण और प्रेषण कई शताब्दियों तक हुआ। किस तरह बाइबिल का एक धार्मिक मूलग्रंथ के रूप में विकास हुआ, इसे पढ़ने-सुनने वाले कौन थे, इनका क्या ऐतिहासिक संदर्भ था, इन सबका विस्तृत अध्ययन स्पिनोज़ा ने प्रस्तुत किया है। पोलॉक कहते हैं कि बाइबिल को समझने के लिए जिन पद्धतियों का स्पिनोज़ा ने इस्तेमाल किया, फ़िलॉलॅजी के विद्यार्थियों को आज भी लगभग उन्हीं की शिक्षा दी जाती है।

स्पिनोज़ा के बाइबिल-अध्ययन में एक पूर्व-धारणा है जो समयांतर में फ़िलॉलॅजी की मूल धारणा के तौर पर स्थापित होती है। यह मूल धारणा है कि किसी ग्रंथ का एक ही सच्चा अर्थ हो सकता है। दूसरे शब्दों में कहें तो शब्दों से हुई किसी रचना का एक ही वस्तुनिष्ठ या 'ऑब्जेक्टिव' अर्थ या आशय होता है। वैज्ञानिक अनुसंधान का उद्देश्य है इस एकमात्र आशय को समझना। एक दूसरी पूर्व-धारणा भी है जिसके अनुसार इस एकल अर्थ को समझने के लिए हमें उस ग्रंथ को उसके ऐतिहासिक समय से जोड़ना पड़ेगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी रचना के अर्थ अपने समय में कैसे समझे गये। हम जिस धारणा की बात कर रहे हैं उसके अनुसार महत्त्वपूर्ण यह नहीं

---

[3] *ट्रैक्टेटस थियोलॉजिको-पॉलिटिक्स* यानी धर्म और राजनीतिशास्त्र का ग्रंथ. यह पुस्तक आसानी से इंटरनेट पर archive.org, www.gutengerg.org तथा अन्य वेबसाइटों पर उपलब्ध है. इसकी प्रकाशित प्रति के संदर्भ के लिए देखें, बारूश स्पिनोज़ा (1997), *ट्रैक्टेटस थियोलॉजिको-पोलिटिक्स,* ब्रिल एकेडमिक.

22_philology_Layout 1 5/1/2014 5:02 PM Page 316



है कि ग्रंथ में क्या कहा जा रहा है। महत्त्वपूर्ण यह है कि ग्रंथ के माध्यम से उसका समय बोलता है और यही उस ग्रंथ का एकमात्र वस्तुनिष्ठ अर्थ है। उदाहरण के लिए, बाइबिल का ऐतिहासिकतावादी अर्थ ही वस्तुनिष्ठ है, सही है, सच्चा है। उसका कोई भी धार्मिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक या व्यक्तिगत अर्थ अगर हम खोजते या पाते हैं तो इस सिद्धांत के अनुसार वह महज़ एक कल्पना है और अंततः झूठा है। कोई ग्रंथ समय की दीवार लाँघ कर हमसे कुछ नहीं कहता, या हमें कोई सच नहीं बताता। वह अपने ऐतिहासिक समय में क़ैद अर्थों का एक पुंज है जिसे हम फ़िलॉलॅजी की विशेष पद्धतियों द्वारा ही जान सकते हैं। इस सिद्धांत को ऐतिहासिकतावाद या 'हिस्टॉरिसिस्ट' कहा गया और यह फ़िलॉलॅजी का एक केंद्रीय सिद्धांत रहा है।

**स्पिनोज़ा के बाइबिल-अध्ययन में एक पूर्व-धारणा है जो समयांतर में फ़िलॉलॅजी की मूल धारणा के तौर पर स्थापित होती है। यह मूल धारणा है कि किसी ग्रंथ का एक ही सच्चा अर्थ हो सकता है। दूसरे शब्दों में कहें तो शब्दों से हुई किसी रचना का एक ही वस्तुनिष्ठ या 'ऑब्जेक्टिव' अर्थ या आशय होता है। वैज्ञानिक अनुसंधान का उद्देश्य है इस एक मात्र आशय को समझना। एक दूसरी पूर्व-धारणा भी है जिसके अनुसार इस एकल अर्थ को समझने के लिए हमें उस ग्रंथ को उसके ऐतिहासिक समय से जोड़ना पड़ेगा।**

किसी ग्रंथ को समझने की जो अतीत में परम्पराएँ रही हैं, उनको यह ऐतिहासिकतावादी सिद्धांत पूरी तरह से नकार देता है। पुराने ग्रंथों पर जो टीकाएँ लिखी गयीं, उनकी जो व्याख्याएँ की गयीं, वे सब इस सिद्धांत के अनुसार उस ग्रंथ पर कोई प्रकाश नहीं डालतीं। पोलॉक 'इंडोलॅजी' या भारत-विद्या का उदाहरण देते हैं। इंडोलॅजी के विद्वानों ने वेद, रामायण इत्यादि पर लिखी गयी टीकाओं और व्याख्याओं को पूरी तरह से नकार दिया। वेद पर सायण की व्याख्या को व्हिटनी ने बेतुका क़रार दिया था। इंडोलॅजी का इतिहास इस तरह के मूल्यांकनों से भरा पड़ा है।

## पाठ्य के त्रि-आयामी अर्थ

फ़िलॉलॅजी की इस ऐतिहासिकतावादी परम्परा से अलग पोलॉक ने त्रि-आयामी अर्थ के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। अर्थ के इन तीन आयामों को पोलॉक इस प्रकार देखते हैं :

1. रचयिता का अर्थ या ऐतिहासिकतावादी अर्थ
2. परम्परागत अर्थ या परम्परावादी अर्थ, और
3. आज के समय में हमारा अर्थ या समसामाजिक वर्तमान अर्थ

दूसरी तरह से इन्हें कह सकते हैं :

1. शाब्दिक अर्थ (टेक्स्चुअल मीनिंग)
2. सांदर्भिक अर्थ (कांटेक्स्चुअल मीनिंग)
3. फ़िलॉलॅजी के विद्वान का अर्थ (फ़िलॉलॉजिकल मीनिंग)

22_philology_Layout 1 5/1/2014 5:02 PM Page 317



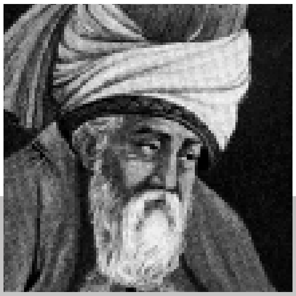

**रूमी कहते हैं कि इसलाम के प्रचलित सभी 73 सम्प्रदायों से उनका कोई विरोध नहीं है, क्योंकि सभी सही हैं। जब किसी एक सम्प्रदाय का व्यक्ति उन्हें बुरा-भला सुनाता है, तो रूमी कहते हैं कि वे उससे भी सहमत हैं। कोई जब कहता है कि आप सभी के लिए 'तुम भी सही हो', 'तुम भी सही हो' नहीं कह सकते, तो रूमी कहते हैं कि 'आप भी सही हो'। इस क़िस्से को लेकर प्रश्न उठ सकता है कि इसकी व्याख्या कैसे की जाए। हम सूफ़ी ज्ञान-परम्परा का संदर्भ लें या फिर रूमी के देश-काल का संदर्भ। यहाँ पर चूँकि पोलॉक रूमी की बात को फ़िलॉलॅजी की ज्ञान-परम्परा के संदर्भ में देख रहे हैं, इसलिए ऐतिहासिकता गौण हो गयी है। यही उपाख्यान अगर एक पाठ्य के तौर पर फ़िलॉलॅजी की विषय-वस्तु बन जाए तो फिर इसे देश-काल के जाले में रख कर देखना होगा।**

पोलॉक ऐतिहासिकतावादी अर्थ ठुकराते नहीं, पर यह नहीं मानते कि किसी ग्रंथ या पाठ का यही एकमात्र अर्थ है। वे अर्थ के प्रति बहुलतावादी रवैया अपनाते हैं। उनका यह बहुलतावाद दो तरह से लक्षित होता है। एक तो यह कि अर्थ बहुआयामी है, त्रि-आयामी है। दूसरा यह कि फ़िलॉलॅजी की कई परम्पराएँ हैं— एकमात्र परम्परा युरोपीय ही नहीं है।

तीनों प्रकार के अर्थों में अपनी-अपनी सच्चाई है— ये सारे अर्थ सत्य-अर्थ हैं। पोलॉक के लिए यह ज़रूरी नहीं है कि इन तीन प्रकार के अर्थों में हमेशा एक सामंजस्य हो। हम कब किस प्रकार के अर्थों पर अपना ध्यान केंद्रित करते हैं, यह हमारे उद्देश्य पर निर्भर करता है। यहाँ वे सत्य के परिणामवादी सिद्धांत या प्रैग्मेटिज़्म का संदर्भ देते हैं। फ़िलॉलॅजी का अध्ययन इन तीन प्रकार के अर्थों का अनुसंधान है। लेकिन अर्थ अपने आप में नहीं। इस अनुसंधान की विषय-वस्तु है कोई प्राचीन ग्रंथ। ज़्यादा सटीक ढंग से कहें तो फ़िलॉलॅजी के अनुसंधान की विषय-वस्तु है 'टेक्स्ट' जिसका हिंदी में अनुवाद हो सकता है पाठ, मूलपाठ, या फिर इबारत। 'पाठ' में 'टेक्स्ट' या इबारत के अलावा, टेक्स्ट का पाठ या इसकी 'रीडिंग' का भी अर्थ है। यानी कि पाठ में दोनों ही अर्थ हैं— टेक्स्ट और उसकी रीडिंग।

**लिपि, शब्द, पद, पाठ :** इन सबकी एक ख़ास बुनावट, जो किसी ख़ास समय और जगह पर मनुष्यों द्वारा अंकित हुई, के बारे में कहा जा सकता है कि यह 'टेक्स्ट' है। हिंदी भाषा में 'टेक्स्ट बुक' के माध्यम से 'टेक्स्ट' शब्द ने अपना घर बनाया है। आज के ज़माने में 'टेक्स्ट' का इस्तेमाल मोबाइल फ़ोन पर भेजे और पढ़े जाने वाले एसएमएस के लिए भी होता है। 'टेक्स्ट बुक' के अनुवाद 'पाठ्य-पुस्तक' पर नज़र डालें तो एक अनुवाद निकलता है 'पाठ्य'। शायद यही सबसे सही अनुवाद होगा। पाठ्य, यानी कि जिसे पढ़ा जा सके।

किसी ऐतिहासिक पाठ्य को इस तरह से पढ़ना कि उसके सच्चे अर्थ निकल आएँ— पोलॉक के अनुसार इसी का अनुशासन है फ़िलॉलॅजी। यहीं प्रश्न उठ सकता है कि ऐतिहासिक टेक्स्ट ही क्यों? पोलॉक कहते हैं कि पाठ्य जितना पुराना होता है, फ़िलॉलॅजी का अनुशासन उसके प्रति उतना

22_philology_Layout 1 5/1/2014 5:02 PM Page 318



ही ज़्यादा उभरता है।[4] यहाँ ऐसा लगना वाजिब है कि फ़िलॉलॅजी हर लिखावट को इस तरह देखती है मानो वह एक ऐतिहासिक शिलालेख हो। पोलॉक भारत, अरब, चीन और इरान में फ़िलॉलॅजी की जिन परम्पराओं को देखते हैं, उनमें इस तरह की ऐतिहासिक चेतना अनुपस्थित है। वहाँ भी पाठ्य के अर्थों का अन्वेषण होता है और सिद्धांत भी बनते हैं। पर उनका उद्देश्य ऐतिहासिकवादी नहीं है। उनकी दिलचस्पी के केंद्र में इतिहास नहीं है।

ग़ैर-पश्चिमी अर्थान्वेषी सैद्धांतिक परम्पराओं में इस ऐतिहासिक चेतना की अनुपस्थिति को लेकर सम्भावित आलोचना के जवाब में पोलॉक कहते हैं कि एक वैश्विक मुक्तिगामी फ़िलॉलॅजी में आधुनिक ऐतिहासिक चेतना के केंद्रीय स्थान का विरोध सिर्फ़ इसलिए करना कि परम्परा में ऐसा नहीं था, एक उग्र देशज सोच की निशानी है।

## पाठ्य ( टेक्स्ट ) और ज्ञान-परम्पराएँ

हमारी दिलचस्पी भी इसका विरोध करने में नहीं है। हमारी दिलचस्पी मुक्तिगामी फ़िलॉलॅजी के दर्शन का सैद्धांतिक विश्लेषण करने में है। मुक्तिगामी फ़िलॉलॅजी का विमर्श एक प्रकार की ज्ञान-मीमांसा है। हमारी दिलचस्पी इसमें है कि सैद्धांतिक रूप से फ़िलॉलॅजी अन्य ज्ञान-परम्पराओं से किस प्रकार का संबंध बनाती है। पोलॉक की भी दिलचस्पी इसमें है। पर वे ज्ञान-परम्पराओं को, या ज्ञान-परम्परा की धारणा को अपने विचार का विषय नहीं बनाते हैं। न ही फ़िलॉलॅजी ऐसा करती है। जैसा कि हमने कहा है, उनके अन्वेषण की विषयवस्तु है पाठ्य या 'टेक्स्ट'। हमारी दृष्टि में एक फ़िलॉलॅजी का विद्वान किसी प्राचीन ग्रंथ का अध्ययन कैसे करता है, यह भी एक ज्ञान-परम्परा का अंग है। जब कोई फ़िलॉलॅजी का विद्वान सुदूर अतीत के किसी ग्रंथ का अर्थान्वेषण कर रहा है तो हमारी दृष्टि में दो ज्ञान-परम्पराओं में एक सम्पर्क की स्थिति बन रही है। यह सम्पर्क किस प्रकार से होता है, यह महत्त्वपूर्ण है।

यहाँ पर हम एक बार फिर से ग़ौर करें कोई 'टेक्स्ट' क्या चीज़ है। कोई भी टेक्स्ट या ग्रंथ एक ज्ञान-परम्परा का अंग होता है। इसकी रचना और इसे पढ़ना दोनों ही ज्ञान-परम्परा के अंग होते हैं। पूरी जटिलता में देखें तो किसी भी पाठ्य की रचना में कई ज्ञान-परम्पराएँ शामिल होती हैं। एक तो भाषा की परम्परा होती है। लिखावट की तकनीक की परम्परा होती है। फिर रचना की साहित्यिक परम्परा होती है। इसके बाद ये किसी ख़ास ज्ञान-परम्परा के तहत रचे और पढ़े जाते हैं। फिर इनके इस्तेमाल की परम्परा होती है। किसी ग्रंथ का हम विस्तार से अध्ययन करते हैं। किन्हीं ग्रंथों को आदरपूर्वक सजा कर रखते हैं और कई लोगों के बीच उनका पाठ होता है। कुछ ग्रंथों को हम बिस्तर में दुबक कर सपने देखते पढ़ते हैं। कुछ ग्रंथों का उपयोग आध्यात्मिक अभ्यासों के लिए होता है। इस प्रकार देखें तो किसी ग्रंथ का सही अर्थ तब ही निकल आएगा जब हम उसके इस्तेमाल की परम्परा को भी समझें। इसको और सामान्य ढंग से देखें तो कह सकते हैं कि किसी ग्रंथ का अर्थ हम तभी सही ढंग से समझ सकते हैं जब हम उन ज्ञान-परम्पराओं को समझें जिनमें वे रचे और पढ़े गये। परंतु सिर्फ़ ग्रंथ को पढ़ कर हम उस ज्ञान-परम्परा को नहीं जान सकते। क्योंकि ग्रंथ के इस्तेमाल के तरीक़े या उसे पढ़ने के तरीक़े ज़रूरी नहीं कि उस ग्रंथ के अंदर ही पाए जाएँ। बल्कि यह कहना ज़्यादा उचित होगा कि ऐसा सम्भव ही नहीं है। ऐसा इसलिए सम्भव नहीं है कि पाठ्य ज्ञान-परम्परा का सिर्फ़ एक आयाम है। किसी ज्ञान-परम्परा को उसमें उपस्थित पाठ्यों तक सीमित नहीं किया जा

---

[4] मूल पाठ्य : पाठ्य और उसकी भाषा जितनी ज़्यादा प्राचीन होगी, उसके प्रति हमारी पद्धतिमूलक जागरूकता पर फ़िलॉलॅजीकल चिंतन और अधिक स्पष्टकारी प्रभाव डालेगा. देखें, शेल्डन पोलॉक (2009), *फ़्यूचर फ़िलॉलॅजी : फेट ऑफ़ ए सॉफ्ट साइंस इन अ हार्ड वर्ल्ड, क्रिटिकल इनक्वैरी,* खण्ड 35, अंक 4 (ग्रीष्म) : 931-961. ऐसा क्यों होता है पोलॉक इसकी चर्चा नहीं करते.

22_philology_Layout 1 5/1/2014 5:02 PM Page 319



सकता। ज्ञान-परम्पराओं के अपने मूल-विश्वास और धारणाएँ होती हैं जो किसी नयी खोज से निकली होती हैं। इसकी पद्धतियाँ होती हैं और इन पद्धतियों को इस्तेमाल करने की कला होती है। इन सबको जोड़ते हुए आख्यान तथा उपाख्यान होते हैं। इन सबके अलावा पाठ्य को पढ़ने की कला भी होती है जो कि उसी पाठ्य में समावेशित नहीं हो सकती।

उदाहरण के लिए वेद को ही ले लें तो पाठ्य की जटिलताओं से हमारा सामना हो सकता है। काफ़ी समय तक वेद लिखे नहीं जाते थे। इससे पोलॉक को कोई परेशानी नहीं है। वे वाचिक परम्परा में भी पाठ्य का अस्तित्व मानने के लिए तैयार हैं। वेद के संदर्भ में सही ढंग से वेद-पाठ का बहुत महत्त्व है। सदियों तक वेद का टेक्स्ट बिना किसी बदलाव के पढ़ा और सुना जाता रहा। यह पढ़ना और यह सुनना ख़ास आयोजनों में ख़ास विधियों से होता था और इसे पढ़ने और सुनने की परम्परा में विशेष वर्गों को विशेष अधिकार प्राप्त थे। वेद को अपौरुषेय माना गया, यानी मान्यता बनी कि इसकी रचना मानवों द्वारा नहीं हुई। कालांतर में ज्ञान-मीमांसा के संदर्भ में इसे शब्द-प्रमाण की श्रेणी में रखा गया। प्रमाणशास्त्रीय विमर्श में शब्द-प्रमाण पर लम्बी बहस चली तथा बौद्ध एवं कुछ अन्य दर्शनों ने इसे एक स्वतंत्र प्रमाण का दर्जा नहीं दिया।

माना जाता है कि वेदपाठ करते समय ध्वनियों के आयोजन में थोड़ा भी फ़र्क़ नहीं आना चाहिए। पीढ़ी-दर-पीढ़ी इस पाठ में कोई भेद न हो— इसके लिए भाषा और ध्वनि के कई सिद्धांत बनने शुरू हुए और कई पुराने सिद्धांतों को लाया गया। कई काव्यशास्त्रीय सिद्धांत भी यहाँ पर उपजे। वाक्य को ध्वनियों की समय में बनी हुए एक पंक्ति के रूप में व्याख्यायित किया गया जिससे अर्थ की उत्पत्ति होती है। कहने का अर्थ है कि इस मुक़ाम से 'शब्द' और भाषाज्ञान की परम्पराएँ निकली या परिष्कृत हुईं। इनका संदर्भ वेद वाक्यों के अर्थ से न हो कर, वेदपाठ की निरंतर स्थिरता सँजोने के प्रयास से है। बौद्ध-दर्शन ने वेद को मान्यता नहीं दी, पर अभिधर्म की दार्शनिक परम्परा में चित्त-संतति की धारणा बनी। इसमें मनुष्य के अस्तित्व की कल्पना चित्त की समय में बनी एक पंक्ति के रूप में की गयी जो अनादि है, पर जिसका अंत है। इस चित्त-संतति और ध्वनियों के पंक्ति की वैचारिक संरचना मूलत: एक ही प्रकार की है। बाद में जा कर व्याकरण दर्शन की एक परम्परा के रूप में उभरी जिसे व्याकरण-दर्शन के नाम से जाना गया। इस धारा के एक प्रमुख दार्शनिक भर्तृहरि ने 'शब्द-ब्रह्म' की धारणा बनायी। इन परम्पराओं में पाठ्य (यानी जिसे पढ़ा जा सके) के बजाय शब्द (जिसे सुना जा सके) एक केंद्रीय धारणा के रूप में दिखता है। कालांतर में बौद्ध दार्शनिकों ने शब्द को गौण कर कल्पना या विकल्प की अवधारणा को बढ़ाया और निर्विकल्प को कल्पना की।[5]

वेद के उदाहरण से हम एक तो यह रेखांकित करने की कोशिश कर रहे हैं कि 'टेक्स्ट' अथवा पाठ्य के अर्थ एकाधिक ज्ञान-परम्पराओं से गहरे और जटिल तरीक़ से जुड़े होते हैं। दूसरा यह कि वेद के पाठ्य को पढ़ कर ही हम ये नहीं जान सकते कि वेद क्या चीज़ है। ऐसा इसलिए कि वेद एक परम्परा है और शायद वेद में पाठ्य से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण पाठ है। तीसरा यह भी कि ज्ञान परम्पराएँ जटिल होती हैं। हर ज्ञान-परम्परा में कई अन्य ज्ञान परम्पराएँ व्यावहारिक स्तर पर समावेशित रहती हैं। परस्पर विरोधी ज्ञान परम्पराओं के बीच भी अप्रत्याशित कड़ियाँ मिलती हैं जो जताती हैं कि ज्ञान परम्पराएँ एकल धाराएँ नहीं होती। ज्ञान-परम्पराओं के बीच अंतर्धाराओं का जाल हमेशा बुना जाता रहता है। इन्हीं अंतर्धाराओं की बदौलत ज्ञान-परम्पराओं के बीच संवाद या बहस सम्भव होते हैं।

---

[5] वेद, शब्द, व्याकरण इत्यादि पर तो कई स्रोत उपलब्ध हैं, पर चित्त संतति और ध्वनि की पंक्ति के समानांतर वैचारिक संरचना का मुख्य स्रोत प्रोफ़ेसर नवज्योति सिंह द्वारा पढ़ाया गया कोर्स 'इंट्रोडक्शन टू इंडिक फ़िलॉसाफ़ीज़' है. देखें, नवज योति सिंह (2009), *इंट्रोडक्शन टू इंडिक फ़िलॉसॉफ़ीज़, कोर्स मॉनसून सत्र,* 2009 इंटरनैशनल इंस्टीट्यूट ऑफ़ इंफ़ॉर्मेशन टेक्नोलॅजी, हैदराबाद.

22_philology_Layout 1 5/1/2014 5:02 PM Page 320



## परम्परा के अर्थ

पोलॉक द्वारा मुक्तिगामी फ़िलॉलॅजी की कल्पना में ज्ञान-परम्पराएँ पूरी तरह से अनुपस्थित नहीं हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित अर्थ के तीन आयामों को देखें तो दूसरा आयाम परम्परा है जिससे उनका आशय है पाठ्य के अर्थ को समझने की परम्परा या पाठ्य का पारम्परिक अर्थ। परम्परागत आधुनिक फ़िलॉलॅजी के विपरीत पोलॉक 'समझने की परम्परा' को भी पाठ्य के सच्चे अर्थों का एक स्रोत मानते हैं। किसी ग्रंथ की व्याख्या-परम्परा को भी वे एक प्रामाणिक 'अर्थ' का दर्जा देते हैं। इसे वे सांदर्भिक अर्थ का वैकल्पिक नाम भी देते हैं। पारम्परिक व्याख्याओं के प्रति अपने इस दृष्टिकोण के समर्थन में वे दो प्रकार के तर्क देते हैं, जो एक-दूसरे से जुड़े हैं।

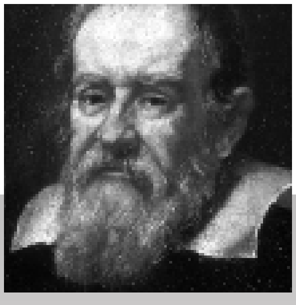

**सत्रहवीं शताब्दी में जब गैलीलियो (1564-1642) आधुनिक विज्ञान की नींव रख रहे थे तो उन्होंने वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रकृति के अध्ययन की व्याख्या इस रूप में की थी यह 'प्रकृति की किताब' यानी 'बुक ऑफ़ नेचर' को पढ़ने के समान है। उनके निशाने पर चर्च की यह धारणा थी कि हमारे लौकिक ज्ञान को कभी भी बाइबिल या 'भगवान की किताब' के विरुद्ध नहीं जाना चाहिए। गैलीलियो के अनुसार प्रकृति भी एक 'पाठ्य' है, जिसकी मूल भाषा है गणित। पोलॉक के अनुसार 'मानवता' वह दूसरा पाठ्य है, जिसकी भाषा है फ़िलॉलॅजी।**

पहले वे कहते हैं कि किसी पाठ्य की हर एक व्याख्या सच्ची है। प्रश्न उठ सकता है कि अगर उन व्याख्याओं में आपस में मतभेद या विरोध हो तो यह कैसे कहा जा सकता है। अगर हम इन व्याख्याओं को ज्ञान-परम्पराओं के अंतर्गत देखें तो यह कोई समस्या नहीं होगा, क्योंकि ज्ञान-परम्पराओं में मतभेद का होना तथा उन पर बहस स्वाभाविक है। पर पोलॉक दूसरा रास्ता अपनाते हैं। उनके अनुसार हमें इसका अन्वेषण करना होगा कि पाठ्य या टेक्स्ट में ऐसा क्या है जो इन विविध व्याख्याओं के जन्म का कारण बनता है। यहाँ 'कारण' द्वि-अर्थी हो सकता है। अगर हम ज्ञान के दृष्टिकोण से देखें तो 'कारण' का मतलब है 'रीज़न' यानी तार्किक कारण। इस कारण को जानने के लिए हम पाठ्य की तार्किक संदिग्धताओं का विश्लेषण करेंगे। 'कारण' का दूसरा अर्थ है— कॉज़, यानी ऐतिहासिक कारण। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें किसी भी व्याख्या का कोई न कोई कारण तो अवश्य होगा। अपने वक्तव्यों में पोलॉक यहाँ पर बहुत साफ़ या पारदर्शी नहीं हैं जिससे एक तरह की संदिग्धता बनी रहती है। अंततः वे अर्थ के बहुलतावादी सिद्धांत का सहारा लेते हुए भारतीय परम्परा में इस सिद्धांत की उपस्थिति की ओर ध्यान दिलाते हैं और साथ ही आधुनिक भारतीय विमर्श में इसके विपरीत 'एकमात्र अर्थ' के सिद्धांत की व्यापकता पर दुःख प्रकट करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जलालुद्दीन रूमी (1207-1273) से जुड़े एक उपाख्यान को भी उद्धरित करते हैं। रूमी कहते हैं कि इसलाम के प्रचलित सभी 73 सम्प्रदायों से उनका कोई विरोध नहीं है, क्योंकि सभी सही हैं। जब किसी एक सम्प्रदाय का व्यक्ति उन्हें बुरा-भला सुनाता है, तो रूमी कहते हैं कि वे उससे भी सहमत हैं। कोई जब कहता है कि आप सभी के लिए 'तुम भी सही हो', 'तुम भी सही हो' नहीं कह सकते, तो रूमी कहते हैं कि 'आप भी सही हो'। इस क़िस्से को लेकर प्रश्न उठ सकता है कि इसकी व्याख्या कैसे की जाए। हम सूफ़ी ज्ञान-परम्परा का संदर्भ लें या फिर रूमी के देश-काल का संदर्भ। यहाँ पर चूँकि पोलॉक रूमी की बात

22_philology_Layout 1 5/1/2014 5:02 PM Page 321

**अमेरिकी दर्शन 'प्रैग्मेटिज़्म' के जनक पीयर्स भी 'संकेत' का एक त्रिकोणात्मक सिद्धांत देते हैं। पीयर्स के त्रिकोणीय 'संकेत' का सिद्धांत और पोलॉक के त्रिआयामी अर्थ में अगर कुछ समानांतर दृष्टिगोचर हो जो इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि पोलॉक अपने आप को प्रैग्मेटिज़्म के काफ़ी पास पाते हैं। ...'दो सत्यों' का सिद्धांत बौद्ध दर्शन परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है, हालाँकि इसे कुछ अन्य दर्शनों में भी देखा जा सकता है। बौद्ध दर्शन में इन दो सत्यों को 'परमार्थिक सच' और 'संवृत्ति सच' की संज्ञा दी गयी है। परमार्थिक सत्य तो चरम सत्य है, संवृत्ति सत्य एक प्रकार का व्यावहारिक सत्य। अपने लेख में पोलॉक बौद्ध दर्शन के इस सिद्धांत का संदर्भ भी देते हैं। पर इन 'दो सत्यों' और 'तीन अर्थों' में कैसे सामंजस्य हो, इस पर पोलॉक कुछ नहीं कहते। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अर्थ के तीनों आयाम आख़िरकार 'सच्चे अर्थ' हैं, इसलिए सत्य ही हैं।**

को फ़िलॉलॅजी की ज्ञान-परम्परा के संदर्भ में देख रहे हैं, इसलिए ऐतिहासिकता गौण हो गयी है। यही उपाख्यान अगर एक पाठ्य के तौर पर फ़िलॉलॅजी की विषय-वस्तु बन जाए तो फिर इसे देश-काल के जाले में रख कर देखना होगा।

ज्ञान-परम्पराओं की विशेषता है कि वे देश-काल के सीमाओं का अतिक्रमण करती रहती हैं। जो चीज़ देश-काल से जुड़ी हैं, वह है ज्ञान-परम्पराओं की श्रेणीबद्ध व्यवस्था। जब विविध ज्ञान परम्पराओं को ऊँच-नीच के भाव से युक्त श्रेणियों में स्थापित किया जाता है तब ज्ञान और सत्ता के संबंध उजागर होते हैं और ये संबंध देश-काल समाज से जुड़े होते हैं। ज्ञान और इतिहास के संबंधों से जुड़े इन सवालों के संदर्भ में मिशेल फूको (1926-1984) ऐतिहासिकता का विमर्शाकाश छोड़ कर वंशावली या जिनियोलॅजी का एक नया विमर्श खड़ा करते हैं। पर यह एक अलग ही विमर्श है, जिसे हम अभी नहीं उठा सकते।

### 'आज का अर्थ'

हम पोलॉक की त्रि-आयामी अर्थ-संरचना के तीसरे आयाम की ओर नज़र डालते हैं। किसी भी पाठ्य के अर्थ का ये तीसरा आयाम है 'आज' का अर्थ। कोई भी पाठ्य चाहे कितना भी पुराना हो, वह आज हमारे लिए क्या अर्थ रखता है, यहाँ इसकी पड़ताल होती है। फ़िलॉलॅजी की ऐतिहासिकतावादी परम्परा में हर पाठ्य को उसके देश-काल के ऐतिहासिक संदर्भ द्वारा जनित माना जाता है। पर आज जो फ़िलॉलॅजी के विद्वान लिख रहे हैं, उसे पूरी तरह से इतिहास-मुक्त माना जाता है। इसके विपरीत पोलॉक मानते हैं कि अतीत के ज्ञान के निर्माण में वर्तमान सदा उपस्थित रहता है। हमारी वर्तमान ऐतिहासिक स्थिति और हमारी आकांक्षाएँ हमारे अध्ययन को प्रभावित करती हुई उन्हें दिशा देती हैं। आज जब हम *रामायण* पढ़ते हैं तो बाबरी मसजिद का विध्वंस उसमें पूरी तरह अनुपस्थित नहीं रह सकता है। स्पिनोज़ा ने जब बाइबिल पढ़ी तो इसके उसी तरह के अर्थ निकल कर आये जिनकी माँग स्पिनोज़ा का वर्तमान और उनका दर्शन कर रहा था।

पोलॉक के अनुसार आज की भूमण्डलीकृत दुनिया में पूँजीवादी आधुनिकता वर्चस्व तले हमें एक ऐसी उत्तर-पूँजीवादी मुक्तिगामी फ़िलॉलॅजी की ज़रूरत है जो संकीर्णताओं से परे सम्पूर्ण मानव-जाति की एक नयी पहचान बनाने में योगदान दे सकें। आज मानव-समाज जिन राजनीतिक, आर्थिक

22_philology_Layout 1 5/1/2014 5:02 PM Page 322



और पर्यावरणीय संकटों से गुज़र रहा है, हमारा ज्ञान और अनुसंधान उनसे अछूते नहीं रह सकते। प्राचीन ग्रंथों का उनकी मूल भाषाओं में अध्ययन करके हम जिन अर्थों का उद्‌घाटन करेंगे, उनमें हमारे वर्तमान और हमारी आकांक्षाओं की भी उपस्थिति होगी। इस प्रकार कहा जा सकता है कि पूँजीवादी दुनिया से एक प्रक्षेपित उत्तर-पूँजीवादी दुनिया की ओर संक्रमण में परम्परागत फ़िलॉलॅजी से मुक्तिगामी फ़िलॉलॅजी की रचना एक तरह से प्रतिबिम्बित होती है ।

हमारा सवाल है कि एक फ़िलॉलॅजी-विद्वान अपनी वर्तमान दुनिया से एक फ़िलॉलॅजी-विद्वान के रूप में किस तरह मुख़ातिब होता है। ज़ाहिर है कि उसके आज की दुनिया के बीच का सेतु फ़िलॉलॅजी की विद्वता है। इस विद्वता या अनुसंधान की मध्यस्थता किस रूप में होती है। हम कह सकते हैं कि फ़िलॉलॅजी-विद्वान और इस जगत के बीच ज्ञान की एक दुनिया है। दूसरे शब्दों में कहें तो लोक और विद्वान/विद्वत्ता के बीच एक विद्यालोक है। इस विद्यालोक में बसती हैं— ज्ञान के प्रति मूलभूत धारणाएँ, ज्ञान-कर्म की व्यवस्थाएँ और संस्थाएँ, अनुसंधान-शाखाओं के विभाजन तथा उनकी श्रेणियाँ।

पोलॉक की दृष्टि में विद्यालोक मूलतः अकादमिक ज्ञान की दुनिया है। और, इस अकादमिक दुनिया का मूल मंत्र और तंत्र है वैज्ञानिकता। यहाँ 'विज्ञान' को हमें इसकी जर्मन परम्परा में देखना होगा— विसेनशॉफ़्ट। इस जर्मन अर्थ में विज्ञान सिर्फ़ प्रकृति के अध्ययन तक सीमित नहीं है। किसी भी प्रकार के अनुशासित अनुसंधान पर यह लागू हो सकता है। ऐसा होकर भी यहाँ प्रकृति और मानवता के बीच एक मौलिक द्वैत परिलक्षित होता है जो कि पोलॉक के विचार में भी क़ायम है। सत्रहवीं शताब्दी में जब गैलीलियो (1564-1642) आधुनिक विज्ञान की नींव रख रहे थे तो उन्होंने वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रकृति के अध्ययन की व्याख्या इस रूप में की थी यह 'प्रकृति की किताब' यानी 'बुक ऑफ़ नेचर' को पढ़ने के समान है। उनके निशाने पर चर्च की यह धारणा थी कि हमारे लौकिक ज्ञान को कभी भी बाइबिल या 'भगवान की किताब' के विरुद्ध नहीं जाना चाहिए। गैलीलियो के अनुसार प्रकृति भी एक 'पाठ्य' है, जिसकी मूल भाषा है गणित। पोलॉक के अनुसार 'मानवता' वह दूसरा पाठ्य है, जिसकी भाषा है फ़िलॉलॅजी।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण में ज्ञान और परम्परा के बीच एक अंतर्निहित विरोध है। आधुनिक वैज्ञानिक सोच परम्परा-विरोध की ज़मीन पर खड़ा हुआ है, इसलिए विज्ञान को वह एक ज्ञान-परम्परा नहीं मानता। इस दृष्टिकोण में विज्ञान मूलतः अ-पारम्परिक है। किसी परम्परा का एक आयाम कुछ मूल विश्वासों अथवा धारणाओं से बनता है जिन्हें प्रश्नों के दायरे में नहीं लाया जाता, बल्कि उस विश्वास के आधार पर ही अन्य सारे सवाल उठाए जाते हैं। आधुनिक विज्ञान की पहचान यह है कि वह संशय की ज़मीन पर खड़ा है। विश्वास या किसी प्रकार की प्रतिबद्धता का इसमें कोई स्थान नहीं है। वैसे तो बीसवीं शताब्दी में विज्ञान-कर्म के अनगिनत अध्ययनों ने यह दिखाया है कि विज्ञान में भी विश्वास और प्रतिबद्धता की मौजूदगी रहती है। पर कुल मिला कर वैज्ञानिक कर्म की कोई वैकल्पिक पहचान नहीं उभर सकी है।

बहरहाल, इस बड़ी बहस में न जा कर हम फ़िलॉलॅजी की परम्परा पर अपना ध्यान केंद्रित करेंगे। चूँकि पोलॉक ने भी पाठ्य के परम्परावादी अर्थों को सच्चे अर्थों की पंक्ति में रखा है, इसलिए इस लेख के संदर्भ में यह किसी बड़े विवाद का मुद्दा नहीं होना चाहिए। हमारा कहना सिर्फ़ यह है कि फ़िलॉलॅजी-विद्वान और दुनिया के बीच का रिश्ता फ़िलॉलॅजी की परम्परा में एक विश्वास के माध्यम से बनता है।

### 'तीन अर्थों' और 'दो सत्यों' की गुत्थी

पोलॉक मानते हैं कि तीनों प्रकार के अर्थों के संघटन में ही फ़िलॉलॅजी अपने सत्य की खोज करती है। ये तीन प्रकार के अर्थ किस तरह एक-दूसरे से मिल कर किसी प्राचीन ग्रंथ के अर्थ का निर्धारण करते हैं, इस पर पोलॉक प्रकाश नहीं डालते हैं। बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि इसकी वे ज़रूरत

22_philology_Layout 1 5/1/2014 5:02 PM Page 323



ही नहीं समझते हैं। इन तीन अर्थों में किसी क़िस्म का टकराव हो तो शायद वे इसे बहुलतावाद की एक आवश्यक क़ीमत मानते हैं। यहाँ वे परिणामवाद यानी प्रैग्मेटिज़्म का संदर्भ देते हैं। उनके अनुसार हमारे अध्ययन का उद्देश्य तय करता है कि अपने अध्ययन में इनमें से किस अर्थ पर ध्यान केंद्रित करें।

पोलॉक के कई वक्तव्यों से ऐसा महसूस हो सकता है कि अर्थ के ये तीनों आयाम एक ही धरातल पर हैं। लेकिन फिर ऐतिहासिकतावादी यानी हिस्टोरिसिस्ट अर्थ को वे फ़िलॉलॅजी-अनुसंधान के केंद्र में लाते हैं। उनके अनुसार फ़िलॉलॅजी का अनुसंधानकर्ता इस बारे में कोई संशय नहीं रखता कि एक ऐतिहासिकतावादी के रूप में हम पाठ्य के ज़्यादा गहरे और ज़्यादा सच्चे अर्थों को पाते हैं। और हम इन्हीं 'ज़्यादा गहरे' और 'ज़्यादा सच्चे' अर्थों की ओर अपने वैज्ञानिक कर्म में प्रवृत्त होते हैं। इस तरह से फ़िलॉलॅजी का अपना एक चरम सत्य है जो ऐतिहासिकतावादी धारणा से निकल कर आता है।[6] अपने व्याख्यान में पोलॉक ने प्रैग्मेटिज़्म या परिणामवाद से अपने को अलग करते हुए कहा कि इस बिंदु पर वे रिचर्ड रोर्ती से अलग हो जाते हैं।

इस ज़्यादा गहरे और ज़्यादा सच्चे ऐतिहासिकतावादी सत्य की पहचान के तुरंत बाद पोलॉक परम्परागत अर्थों की ओर मुड़ते हैं। वे कहते हैं कि ऐसा होते हुए भी (यानी ऐतिहासिकतावादी चरम सत्य के बावजूद) हम यह नहीं भूल सकते कि ऐतिहासिक चेतना में सत्यों का उदय होता रहता है। भले ही ये सत्य मूर्त्त रूप में ऐसा आकार लेते हैं जो मिथ्या हो, या मिथ्या प्रतीत हो। मिथ्या में भी अपनी सच्चाई है। कल्पना में भी सत्य होता है।[7]

त्रि-आयामी अर्थ के सिद्धांत के बाद यहाँ पोलॉक के विचार में 'दो सत्यों' का सिद्धांत दिखाई पड़ता है। 'दो सत्यों' का सिद्धांत बौद्ध दर्शन परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है, हालाँकि इसे कुछ अन्य दर्शनों में भी देखा जा सकता है। बौद्ध दर्शन में इन दो सत्यों को 'परमार्थिक सच' और 'संवृत्ति सच' की संज्ञा दी गयी है। परमार्थिक सत्य तो चरम सत्य है, संवृत्ति सत्य एक प्रकार का व्यावहारिक सत्य। अपने लेख में पोलॉक बौद्ध दर्शन के इस सिद्धांत का संदर्भ भी देते हैं। पर इन 'दो सत्यों' और 'तीन अर्थों' में कैसे सामंजस्य हो, इस पर पोलॉक कुछ नहीं कहते। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अर्थ के तीनों आयाम आख़िरकार 'सच्चे अर्थ' हैं, इसलिए सत्य ही हैं। बौद्ध दर्शन परम्परा में 'दो सत्यों' के सिद्धांत के अलावा अर्थ के सिद्धांत भी उपस्थित हैं।[8] यहाँ हम इतना ही कहना चाहते हैं कि तीन अर्थों के संबंध के सिलसिले में पोलॉक की स्थापनाएँ कुछ अधूरी और विसंगत ज़रूर लगती हैं।

---

[6] मूल पाठ्य : पाठ्य का अनुशीलन करते समय फ़िलॉलॅजी के किसी विद्वान को चूँकि यह संदेह नहीं होता कि उसमें निहित कहीं गहरे और कहीं सच्चे अर्थ तक हम एक ऐतिहासिकतावादी के रूप में ही पहुँच सकते, इसलिए हमें इस वैज्ञानिक रास्ते के मुताबिक़ प्रयासरत रहना ही होगा. देखें, शेल्डन पोलॉक (2012), *लिबरेशन फ़िलॉलॅजी*, सी.एस.डी.एस. स्वर्ण जयंती व्याख्यानमाला, 19 दिसम्बर. (यू ट्यूब पर उपलब्ध).

[7] मूल पाठ्य : 'लेकिन ऐतिहासिक चेतना में ऐसे सत्य भी होते हैं जो अतीत की ऐसी व्याख्याओं में संगठित मिलते हैं जो या तो भ्रांत होती हैं या भ्रांत लगती हैं. ये व्याख्याएँ भी सत्य से कम नहीं होतीं, और हो सकता है कि वे सत्य ही प्रतीत हों. भ्रांति में भी सत्य निहित होता है. कल्पना में भी सच्चाई बसती है. देखें, शेल्डन पोलॉक (2012), *लिबरेशन फ़िलॉलॅजी*, सी.एस.डी.एस. स्वर्ण जयंती व्याख्यानमाला, 19 दिसम्बर. (यू ट्यूब पर उपलब्ध).

[8] 'दो सत्यों' और 'तीन अर्थों' की गुत्थी पर कुछ प्रकाश डालने के लिए देखें मारियो डी'अमातो का लेख 'सीमिओटिक्स ऑफ़ साइनलेसनेस' (2003). वे चार्ल्स सैंडर्स पियर्स के 'संकेत' (साइन) की अवधारणा के संदर्भ में बौद्ध 'लक्षण' और 'निमित्त' का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं. अमेरिकी दर्शन 'प्रैग्मेटिज़्म' के जनक पीयर्स भी 'संकेत' का एक त्रिकोणात्मक सिद्धांत देते हैं. पीयर्स के त्रिकोणीय 'संकेत' का सिद्धांत और पोलॉक के त्रिआयामी अर्थ में अगर कुछ समानांतर दृष्टिगोचर हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि पोलॉक अपने आप को प्रैग्मेटिज़्म के काफ़ी पास पाते हैं. हमारा प्रश्न यह है कि 'लक्षण' के संदर्भ में 'दो सत्यों' के सिद्धांत की क्या प्रासंगिकता है, हालाँकि डी'अमातो का मूल विषय ये नहीं है.

22_philology_Layout 1 5/1/2014 5:02 PM Page 324



## फ़िलॉलॅजी की ज्ञान परम्परा

फिर से एक नज़र हम फ़िलॉलॅजी की ज्ञान-परम्परा पर डालें। पोलॉक की नज़रों में इस परम्परा की शुरुआत स्पिनोज़ा के ग्रंथ में देखी जा सकती है। इस परम्परा के कई आख्यान हैं, कई इतिहास हैं। अलेक्सांद्रिया के वैयाकरणों और सम्पादकों से लेकर, नवजागरण के मानवतावादी चिंतकों से होते हुए ये आख्यान अतीत को वर्तमान से जोड़ते हैं। पोलॉक इसमें एक नया आख्यान, एक नया इतिहास जोड़ते हैं जिसके तहत भारत तथा अन्य क्षेत्रों से अन्य कई विद्वान, ग्रंथ तथा ज्ञान-परम्पराएँ फ़िलॉलॅजी की कहानी के अंग बन जाते हैं। इस तरह वे फ़िलॉलॅजी की परम्परा को एक बार फिर से रच रहे हैं। इस परम्परा में चरम सत्य या गहरे सत्य की एक धारणा है और उस तक पहुँचने की पद्धतियाँ हैं। इस परम्परा के अध्ययन की विषय-वस्तु है पाठ्य।

ऐसे ऐतिहासिक पाठ्य जो अपने समय के संकेत के रूप में सामने आते हैं। इन सब मानवकृत पाठ्य के पीछे, और इनसे अलग है एक मूल पाठ्य— मानवता की किताब। मानवता की यह किताब उन भाषाओं में नहीं लिखी गयी हैं जिनमें मनुष्य सुदूर अतीत से लेकर वर्तमान तक सुनते, बोलते, लिखते, पढ़ते रहे हैं। इस किताब की एक विशेष भाषा है फ़िलॉलॅजी, जिस तरह 'प्रकृति की किताब' की भाषा है गणित। 'मानवता की किताब' अर्थों की भाषा में लिखी गयी है, और प्रकृति की किताब अर्थ-विहीन 'मैटर' की भाषा में। वास्तविकता यानी रियलिटी इन दो वस्तुओं से बनी है— अर्थ और भौतिक पदार्थ, मैटर और मीनिंग।

जो विश्वास इस परम्परा को जीवित रखता है वो फ़िलॉलॅजी-विद्वान का वर्तमान है और वर्तमान में उसकी पहचान है। इसलिए ऐतिहासिकतावादी चरम सत्य और वर्तमान-मूलक 'आज का अर्थ' दो अलग-अलग अर्थ नहीं हैं, बल्कि एक ही अर्थ के दो छोर हैं। इन दो छोरों को जोड़ने वाली कड़ी है फ़िलॉलॅजी की ज्ञान-परम्परा।

अब हम इस फ़िलॉलॅजी की परम्परा 'समझने की परम्परा' की तुलना में को देखें तो पाएँगे कि फ़िलॉलॅजी के लिए पाठ्य एक समझने की वस्तु है। इससे अलग एक समझने की परम्परा के लिए पाठ्य ज्ञान का एक स्रोत है, ज्ञान की विषयवस्तु नहीं।

यहाँ ज्ञान की वस्तु है वह चीज़ जिसे पाठ्य कहता है या कहना चाहता है। फ़िलॉलॅजी जब स्पिनोज़ा रचित पाठ्य को या रूमी का उपाख्यान देखती है तो उसे ज्ञान के स्रोत के रूप में देखती है। पर फ़िलॉलॅजी की परम्परा से बाहर किसी दूसरे समय या स्थान से आये पाठ्य को एक विषय वस्तु के रूप में देखती है, जिसके 'पीछे' जा कर एक ऐतिहासिकतावादी सत्य को निचोड़ कर बाहर लाना उसका उद्देश्य है।

## फ़िलॉलॅजी और ज्ञान परम्पराएँ

फ़िलॉलॅजी अगर परम्परा-मुक्त नहीं है और यह अपने आप में एक परम्परा है, तो परम्परागत अर्थ फ़िलॉलॅजी के अंदर भी हैं, सिर्फ़ बाहर नहीं। दूसरी ओर, परम्परागत अर्थों के भी अपने चरम सत्य हैं और सम्भवत: वर्तमान भी।

फ़िलॉलॅजी के ज्ञान परम्पराओं से संबंध के मुद्दे मेरे सामने सबसे पहले भारतीय दर्शन के ग्रंथों के अनुवाद के संदर्भ में सामने आये। भारतीय दर्शन के ग्रंथों के अनुवाद में फ़िलॉलॅजी विद्वानों का प्रभाव व योगदान रहा है। इससे दिक़्क़त भी आयी है। एक तरफ़ बहुत से पुराने ग्रंथों के प्रामाणिक पाठ्य की पुन: रचना में उनका योगदान है।

दूसरी ओर फ़िलॉलॅजी से आने वाली अनुवाद में मूल भाषा का वाक्य-विन्यास बनाए रखने की प्रवृत्ति इन्हें समझने में मुश्किल पेश करती हैं। अब कुछ नये अनुवाद आने शुरू हुए हैं जो फ़िलॉलॅजिकल

अनुवाद की जगह फ़िलॉसॉफ़िकल अनुवाद को महत्त्व देते हैं। पहले की प्रतिबद्धता मूलभाषा के प्रति अधिक है तो दूसरे की प्रतिबद्धता ज्ञान-परम्परा के प्रति।[9]

अगर हम फ़िलॉलॅजी के चरम सत्य या गहरे सत्य में विश्वास न भी रखें, तो इसका अर्थ यह नहीं कि फ़िलॉलॅजी एक वास्तविक या प्रामाणिक ज्ञान-परम्परा नहीं है। अपने इस विश्वास के सहारे फ़िलॉलॅजी एक पाठ्य का विज्ञान बनाती है और पाठ्यों के बारे में ज्ञान का एक स्रोत है। फ़िलॉलॅजी का चरम सत्य हमारे लिए कई व्यावहारिक सत्यों का स्रोत है। वेदपाठ की परम्परा का उद्देश्य पाठ के विज्ञान को बनाने का नहीं था। लेकिन उससे निकलने वाली भाषाओं को समझने की परम्पराएँ तो हैं ही। इस प्रकार से फ़िलॉलॅजी हमारे लिए पीछे या बाहर छूट गयी ज्ञान-परम्पराओं तक फिर से पहुँचने का एक साधन बनी है। अपने वैज्ञानिक श्रम द्वारा फ़िलॉलॅजी ने कई ज्ञान परम्पराओं के पाठ्य हमारे लिए प्रस्तुत किये हैं। आज की दुनिया में हम जैसे पढ़ने-लिखने वाले लोगों के लिए अतीत से जुड़ी ज्ञान-परम्पराओं तक का एक महत्त्वपूर्ण रास्ता इन पाठ्यों से होकर जाता है।

वास्तविकता पाठ्य रूप है और उसे पढ़ने की एक विशेष भाषा होती है। यह कल्पना अपने-आप में बहुत पुरानी परम्परा है और विविध विद्याओं की जन्मदाता भी, जिनमें आधुनिक विज्ञान भी शामिल है। पर जब यह किसी दूसरी परम्परा से संवाद की स्थिति में आती है जहाँ वास्तविकता की कल्पना शब्द के रूप में हो और जो विभिन्न विद्याओं की जन्मदात्री रही हो, तो बिना एक वैचारिक भूमि बनाए हम एक को दूसरे पर आरोपित नहीं कर सकते।

सामान्य स्तर पर हमारे सामने प्रश्न उठता है कि अनुसंधान की एक आधुनिक शाखा फ़िलॉलॅजी और दुनिया भर की ज्ञान परम्पराओं में सकारात्मक संबंध किस प्रकार से बन सकते हैं। 'पाठ्य के विज्ञान' के रूप में फ़िलॉलॅजी का ऐसा एक रूप हमने इंगित किया है। फ़िलॉलॅजी अगर ज्ञान परम्पराओं तक रास्ते बनाने के उद्देश्य को सामने रखती है तो कई नये प्रश्न निकल सकते हैं।

इस लेख की पूर्वधारणा यह है कि ज्ञान परम्पराओं में ही प्रवाहित होता है। दूसरा यह कि इन ज्ञान-परम्पराओं के बीच भी कई अंतर्धाराएँ रहती हैं क्योंकि कोई ज्ञान-परम्परा एकल नहीं होती। हर एक में कई दूसरी परम्पराएँ शामिल रहती हैं। इनसे जुड़ी एक तीसरी धारणा भी है जिसका इस लेख में इस्तेमाल नहीं हुआ है। वह यह है कि ज्ञान का विस्तार और ज्ञान का व्यापार पूरे समाज में फैला हुआ है क्योंकि मनुष्य एक ज्ञानवान प्राणी है। अभी इसी क्षण ज्ञान-परम्पराओं का व्यापार पूरे विश्वपटल पर चल रहा है। अगर हम सोच लें कि अकादमिक दुनिया ही ज्ञान का एकमात्र महत्त्वपूर्ण स्थान है तो वे तार जो इसे बृहत्तर ज्ञान की दुनिया और उससे परे दुनिया भर के सामान्य जीवन में चल रहे व्यापार से जोड़ते हैं, अदृश्य हो जाएँगे। सामान्य जीवन ही ज्ञान का सदा-उपस्थित स्थान है।[10] अकादमिक दुनिया तो नष्ट भी हो सकती है, प्रौद्योगिकी पूरी तरह से बदल सकती है, नये धर्मों का उदय हो सकता है, किंतु सामान्य जीवन हमेशा चलता रहता है। मानवता की किताब हर रोज़ इन ज्ञान-तंतुओं से लिखी जाती रहती है। यह कोई ऐसी किताब नहीं, जो पूरी-की-पूरी लिखी रखी है। मानवता की किताब एक अधूरा पाठ्य है और इसे लिखे जाने के तरीक़े अनगिनत ज्ञान-परम्पराओं में ही पाए जाते हैं।

पोलॉक आज की दुनिया में प्राचीन भाषाओं का ज्ञान विलुप्त होने पर चिंतित हैं। हमारा कहना है कि कोई भी भाषा ज्ञान-परम्पराओं के वाहक के रूप में ही जीवंत रह सकती है, न कि किसी ख़ास

---

[9] इस संदर्भ में देखें लॉरेंस मैक्क्री और परिमल पाटील (2010) द्वारा किया गया ग्यारहवीं सदी के विक्रमशिला के दार्शनिक ज्ञान श्रीमित्र की कृति *अपोहप्रकरणम्* का अनुवाद. अनुवाद की समस्या पर भी उनके विचार इस पुस्तक के परिचय अध्याय में देखे जा सकते हैं.

[10] ज्ञान के सदा-उपस्थित स्थान के रूप में सामान्य जीवन की धारणा लोकविद्या विचार के संदर्भ में व्याख्यायित हुई है. देखें, : http://www. vidyaashram. org/lokavidya_standpoint.html

ज्ञान परम्परा की विषय वस्तु के रूप में। जब हम ज्ञान-परम्पराओं की वास्तविकता पहचानेंगे तो हम ज्ञान-परम्पराओं के बीच की अंतर्धाराओं को भी ज़्यादा पहचानने लगेंगे। हमने भारत के संदर्भ में वेद, बौद्ध और अन्य ज्ञान-परम्पराओं के बीच की अंतर्धाराओं की तरफ़ इशारा किया था। भारत और युरोप के बीच भी ज्ञान के रास्ते गुज़रते रहे हैं और ये रास्ते मध्य एशिया, फ़ारस, अरब से यूनान तक फैले हैं।[11] बाक़ी दुनिया में भी ज्ञान का ताना-बाना कैसे बुना जाता रहा— उसे आज कौन जानता है।[12]

## संदर्भ

थॉमस मैकविली (2008), *शेप ऑफ़ एंसिऐंट थॉट : कम्पैरेटिव स्टडीज़ इन ग्रीक ऐंड इण्डियन फ़िलॉसोफ़िज,* मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली.

नवज्योति सिंह (2009), *इंट्रोडक्शन टू इण्डिक फ़िलॉसॉफ़ीज, कोर्स मॉनसून सत्र,* इंटरनैशनल इंस्टिट्यूट ऑफ़ इन्फ़ॉर्मेशन टेक्नोलॅजी, हैदराबाद.

बरूख स्पिनोज़ा (1997), *ट्रैक्टेटस थियोलॉजिको-पोलिटिक्स,* ब्रिल एकेडमिक.

मारियो डी'अमाटो (2003), 'द सेमिओटिक्स ऑफ़ साइनलेसनेस : ए बुद्धिस्ट डॉक्टरिन ऑफ़ साइंस', सेमिओटिका, 147-1/4.

लॉरेंस मैक्क्री और परिमल पाटील (2010), *बुद्धिस्ट फ़िलॉसॅफ़ी ऑफ़ लैंग्वेज इन इण्डिया : ज्ञानश्रीमित्र ऑन एक्सक्लुजन,* कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस.

शेल्डन पोलॉक (2002), 'द डेथ ऑफ़ संस्कृत', *कम्पैरेटिव स्टडीज़ इन सोसाइटी ऐंड हिस्ट्री,* खण्ड 43, अंक 2, अप्रैल 2001.

शेल्डन पोलॉक (2009), *फ़्यूचर फ़िलॉलॅजी : फेट ऑफ़ ए सॉफ़्ट साइंस इन अ हार्ड वर्ल्ड,* क्रिटीकल इन क्वायरी, अंक 35/4 (ग्रीष्म).

शेल्डन पोलॉक (2012), *लिबरेशन फ़िलॉलॅजी,* सी.एस.डी.एस स्वर्ण जयंती व्याख्यानमाला, 19 दिसम्बर 2012. (यू ट्यूब पर उपलब्ध).

---

[11] देखें, थॉमस मैकविली (2008), *शेप ऑफ़ एंसिऐंट थॉट : कम्पैरेटिव स्टडीज़ इन ग्रीक ऐंड इण्डियन फ़िलॉसॅफ़ीज़,* मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली.

[12] इस लेख का एक संक्षिप्त संस्करण मैंने पहले अंग्रेज़ी में लिखा और सी.एस.डी.एस. की वार्षिक रिट्रीट में प्रस्तुत किया। जब मैंने इसे ज़्यादा विस्तार से हिंदी में लिखा तो मुझे एक तरह की स्वतंत्रता का बोध हुआ. ऐसा लगा कि अंग्रेज़ी में लिखते वक़्त मेरे ऊपर मास्टर लोग बैठे हुए थे और मैं परीक्षा दे रहा था। पर मेरा श्रम तब ही सफ़ल माना जाएगा जब मेरे स्वतंत्रता बोध को अंग्रेज़ी या हिंदी भाषा की महिमा न मान कर इनसे जुड़े भिन्न ज्ञानाकाश और उनसे मेरे रिश्तों में ढूँढ़ा जाए. मैं अभय कुमार दुबे का तहेदिल से आभारी हूँ जिन्होंने यह लेख लिखने का प्रस्ताव रखा और हमेशा मुझे हिंदी में लिखने के लिए प्रोत्साहित करते रहे.